भाषाओं के उद्भम और विकास की कहानी

अरुण चतुर्वेदी

(पुस्तक–*भारत में विदेशी लोग एवं विदेशी भाषाएँ, समाजभाषा–वैज्ञानिक इतिहास.* श्रीश चौधरी (2018). राजकमल प्रकाशन)

श्रीश की पुस्तक इतिहास, भाषा, संस्कृति, ज़मीन व सत्ता व इनके पारस्परिक सम्बन्ध पर तार्किक विमर्श है। यह विमर्श भारत में स्थित है। पुस्तक कई स्रोतों का इस्तेमाल करके एक लम्बे समय अन्तराल में विभिन्न लोगों, क़ौमों की भाषाओं, संस्कृतियों में हुई अन्त: क्रिया को प्रस्तुत करते हुए भाषाओं के विकास, उनमें परिवर्तन, समाज और भाषा का तानाबाना आदि मुद्दों का विश्लेषण करने का प्रयास करती है और ऐसे कई मुद्दों पर भारतीय सन्दर्भ में कई महत्त्वपूर्ण पहलू उठाती है। एक पहलू जातीय तत्वों, पहचानों व भाषाओं के पारस्परिक प्रभाव पर है। लेखक हमारे मिथक व कहानियों में निहित संघर्षों व परिभाषाओं का विश्लेषण कर उनके भाषाई व अन्य पहलुओं को उभारते हैं। सं.

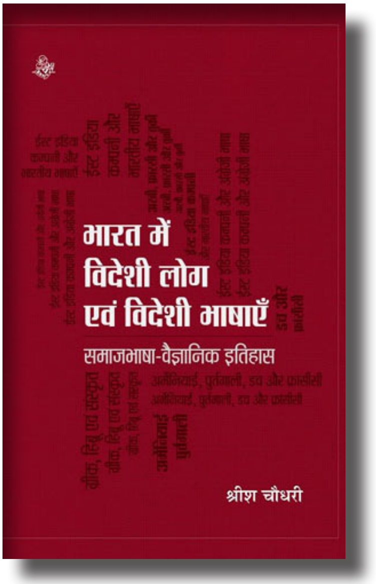

भारत की भाषाओं, उनके विकास व अन्तर्सम्बन्धों पर उन्होंने कई बातें कही हैं। श्रीश कहते हैं कि भारतीय भाषाएँ बदलती रही हैं व उनका महत्त्व भी कम–ज़्यादा होता रहा है। वे यह भी कहते हैं कि भारतीय भाषाओं की विदेशी भाषाओं से लगातार अन्त: क्रिया हुई है और ऐसी कोई भी भारतीय भाषा नहीं है जिसमें विदेशी भाषा के शब्द नहीं हैं। भाषाओं के प्रभुत्व व फैलाव के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि सैन्य, तकनीकी शक्ति व अन्य प्रभावों के कारण भी भाषा का आगमन होता है और धीरे-धीरे यह नई भाषा शक्तिमान होकर सत्ता में मौजूद पुरानी भाषा को हटा देती है। भारतीय व विदेशी भाषाओं की अन्त: क्रिया की सूची में वे बहुत–सी भाषाओं को शामिल करते हैं और ऐसे उदाहरण देते हैं जिनसे इनके बीच हुए आदान–प्रदान की झलक मिलती है। इन उदाहरणों और विश्लेषण से यह पता चलता है कि भाषाएँ काफी उदार और खुली होती हैं। वे नए शब्द लेने को तैयार रहती हैं, जबकि पुरानी भाषाएँ कड़क हो जाती हैं। लेकिन इसके बावजूद यह मुश्किल है कि कोई भी भाषा पूर्ण रूप से इस्तेमाल के बाहर हो जाए।

पुस्तक कई ऐसे उदाहरण व वर्णन भी उपलब्ध कराती है जिसमें इन भाषाओं में हुए आदान–प्रदान की झलक मिलती है। उदाहरण व

इनके विश्लेषण भी दर्शाते हैं कि भाषाएँ काफ़ी खुली और नए शब्दों व विचारों को लेने को तैयार रहती हैं। यह भी एहसास होता है कि भाषाएँ नित विकसित होती और बदलती रहती हैं। बदलाव के इन कारणों में भाषाई सम्पर्क के सभी कारणों के अलावा उन भाषाओं को बोलने वालों का व्यवहार, दृष्टिकोण व सत्ता एवं समाज में उनका वर्चस्व व स्थिति भी योगदान देती है।

पिछले वर्षों में एकरूपता पर अधिक आग्रह किया जा रहा है और इस एकरूपता के आग्रह में जहाँ भाषा भी शामिल हो जाती है, वहाँ सारी भाषाई बहस को उसकी सम्पूर्णता में समझना अपने आप में सारे परिदृश्य को नए परिप्रेक्ष्य में देखना है। जैसा कि पुस्तक रेखांकित करती है भाषाई विस्तार आपसी सम्पर्कों का परिणाम है। यह सहज ही है कि दो अलग भाषाओं का उपयोग करने वाले सम्पर्क में आने पर अपनी-अपनी भाषा को दूसरी भाषा में जोड़ने का प्रयास करते हैं। ऐसे में भाषा के यह प्रयोगकर्ता एक नई भाषा को जन्म देते हैं। यह तथ्य भी है कि भाषा परिवर्तनशील भी है और इस परिवर्तन के दौर में वह शब्द या उपयोग तो रह जाते हैं, जिनका लगातार प्रयोग होता है किन्तु वह जिनका उपयोग सीमित है वह लुप्त होते रहते हैं। यही नहीं भाषा के प्रयोगकर्ता सामाजिक संरचना की हायरारकी में अपने क्रम का प्रतिनिधित्व भी करते हैं। यह अक्सर देखा जाता है कि भाषा का प्रयोग कौन कर रहा है और उसका सामाजिक स्तर क्या है। इन प्रश्नों को भाषाओं के सन्दर्भ में समझना आवश्यक है।

पिछले वर्षों में एकरूपता पर अधिक आग्रह किया जा रहा है और इस एकरूपता के आग्रह में जहाँ भाषा भी शामिल हो जाती है, वहाँ सारी भाषाई बहस को उसकी सम्पूर्णता में समझना अपने आप में सारे परिदृश्य को नए परिप्रेक्ष्य में देखना है। जैसा कि पुस्तक रेखांकित करती है भाषाई विस्तार आपसी सम्पर्कों का परिणाम है।

समीक्षित पुस्तक श्रीश चौधरी के मूल ग्रन्थ *फॉरिनर्स एंड फॉरेन लैंग्वेजेज इन इंडिया* का अनुवाद है। रामाजेय कुमार उपाध्याय इस पुस्तक के अनुवादक हैं, उन्होंने अथक श्रम से विषय की सारी दुरूहता के होते हुए भी सहजता को बनाए रखा है। अनुवादक की यह बात विशेष रूप से आकर्षित करती है कि अनुवाद के लिए उन्हें एक ही सिद्धान्त का पालन करना आवश्यक प्रतीत हुआ– 'भाषिक स्तर से समझौता नहीं करना' और इसका असर साफ़ है कि अनुवाद न केवल स्तरीय है वरन प्रभावकारी भी है।

पुस्तक में सात अध्याय हैं, 1) प्रस्तावना, 2) ग्रीक, हिब्रू एवं संस्कृत, 3) अरबी, फ़ारसी और तुर्की, 4) अर्मेनियाई, पुर्तगाली, डच और फ्रांसीसी, 5) ईस्ट इंडिया कम्पनी और भारतीय भाषाएँ, 6) ईस्ट इंडिया कम्पनी और अँग्रेज़ी भाषा, और 7) उपसंहार। पुस्तक में बहुत से अनुलग्नक और सन्दर्भ नोट भी हैं, जो इस ग्रन्थ की उपयोगिता को बढ़ाते हैं। सन्दर्भ ग्रन्थ सूची व्यापक ही नहीं, दृष्टिवान भी है।

श्रीश चौधरी के आभार से ही शुरू करें तो हम उनकी यह टीप देखते है कि "भारत में भाषा सीखने और पढ़ने की बड़ी पुरानी परम्परा रही है। यहाँ लोग सदियों से सफलतापूर्वक अनेक देशी एवं विदेशी भाषाएँ सीखते और सिखाते आए हैं।" इसी परम्परा का लम्बा आख्यान यह ग्रन्थ है, जहाँ सामाजिक तानेबाने में विदेशी भाषाओं और स्थानीय सम्पर्कों के कई पक्षों को प्रस्तुत किया गया है।

पुस्तक की प्रस्तावना में कुछ महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ हैं। पहली यह कि किस प्रकार कुछ विदेशी भाषाएँ भारत आईं, प्रयोग में लाई गईं और बाहर हो गईं और किस प्रकार उन्होंने कुछ अन्य भाषाओं के परिवर्तन, उत्पत्ति एवं अवसान को गति प्रदान की। और दूसरी यह कि भारतीय भाषाएँ दूसरे देशों में, दूसरी भाषाओं से कैसे प्रभावित हुईं एवं दूसरों को कैसे प्रभावित किया। (पृ. 14)

भारत सदैव से बहुजातीय, बहुधर्मी, बहुराष्ट्रीय एवं बहुभाषी राष्ट्र रहा है। श्रीश भारत में छह जातीय तत्वों के योगदान की बात करते हैं। वे कहते हैं कि रक्त सम्बन्धों, भाषा एवं सभ्यता के दृष्टिकोण से भारत में बहुत से अवयवों का सम्मिश्रण लोगों में और उनकी भाषाओं में मिलता है। वे कहते हैं कि भारत में 4 भाषा परिवारों आस्ट्रिक, तिब्बती-चीनी, द्रविड़ एवं आर्य की झलक मिलती है। ऐसा नहीं है कि एक भाषा में एक ही भाषा परिवार का पुट हो और वह सिर्फ़ उसी से सम्बन्धित हो। वे बताते हैं कि भारत में हिब्रू, चीनी, ग्रीक, संस्कृत, तुर्की, फ़ारसी, अरबी, अर्मिनियन, पुर्तगाली, डच, अँग्रेज़ी, फ्रांसीसी तथा कई अन्य भाषा भाषियों की झलक है और इन सभी भाषाओं का असर बढ़ता-घटता रहा है। इन भाषाओं ने भारत की सांस्कृतिक विविधता को रचा है। (पृ. 15) भारत की विभिन्नताओं, विशेषकर भाषाई विविधता का यह स्पष्टीकरण यह सिखाता है कि ऐसी सारी विविधताओं को बदलना एक अनावश्यक प्रयास रहेगा क्योंकि इनमें हस्तक्षेप स्वभावतः असहज है। विविधता को रोकने से सामाजिक तानाबाना तो बदलता ही है पर भाषाई हिंसा का प्रयोग भी बढ़ जाता है।

> भारत में 4 भाषा परिवारों आस्ट्रिक, तिब्बती-चीनी, द्रविड़ एवं आर्य की झलक मिलती है। ऐसा नहीं है कि एक भाषा में एक ही भाषा परिवार का पुट हो और वह सिर्फ़ उसी से सम्बन्धित हो। वे बताते हैं कि भारत में हिब्रू, चीनी, ग्रीक, संस्कृत, तुर्की, फ़ारसी, अरबी, अर्मिनियन, पुर्तगाली, डच, अँग्रेज़ी, फ्रांसीसी तथा कई अन्य भाषा भाषियों की झलक है।

भारत के मूल, प्राचीन अथवा आदि-निवासी कौन हैं? इस प्रश्न को भाषाई सन्दर्भ में समझना रोचक ही नहीं है वरन यह एक गहरी समझ को भी विकसित करता है। वे कहते हैं कि भारत में हमेशा कई तरह के लोग रहे हैं और यहाँ आक्रमणकारी, साहसी योद्धाओं, व्यापारियों एवं आगन्तुकों का आना-जाना लगा रहा है। लोगों के इस आने-जाने और घुलने-मिलने में वर्चस्व के संघर्ष हमेशा होते रहे हैं। चूँकि आर्य ज़्यादा शक्तिशाली व प्रभावशील बन गए अतः आर्यों को भगवान-स्वरूप माना गया जबकि शक और हूण शैतान माने गए। श्रीश बताते हैं कि आने वाले दूत हों अथवा शैतान हों, देवता हों या राक्षस, भारत में हमेशा विदेशी तत्व आए, रुके और उनमें से बहुत यहाँ से चले भी गए। इसीलिए भारत के मूल निवासी कौन थे, कौन-सी भाषा बोलते थे इत्यादि प्रश्नों का उत्तर देना बहुत आसान नहीं है (पृ. 15) और श्रीश इसका कोई उत्तर देने का जोखिम नहीं उठाते। विदेशी लोगों के आवागमन और उनके द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं की सूची लम्बी है। यही नहीं उनके द्वारा बोली जाने वाली भाषा, वे लोग जो यहाँ रह गए उनके द्वारा प्रयोग में आती रही व इसने स्थानीय/देशज भाषा को भी प्रभावित किया।

यह पुस्तक मूलतः भाषा के ऐतिहासिक, सांस्कृतिक विकास व उसके समाज विज्ञान से जुड़ाव के आधार पर रची गई है। श्रीश बताते हैं कि भाषा की आवश्यकताएँ और प्रयोग परिस्थितियों के अनुसार बदल सकते हैं और उनके उपयोग करने वालों के सन्दर्भों के कारण उनके ख़ास प्रक्षेत्र बन जाते हैं। भारत जैसे बहुभाषी देश में परिस्थितियों व आवश्यकताओं का तानाबाना कई तरह के परिक्षेत्रों का निर्माण करता है। इस सिलसिले में श्रीश की यह बात उल्लेखनीय है कि "प्रत्येक बार एक नई विदेशी भाषा यहाँ आई और उसका सम्पर्क मौजूदा भारतीय एवं अन्य विदेशी भाषाओं के साथ हुआ और धीरे-धीरे प्रचलित भाषाओं की जगह नई भाषाएँ कुछ प्रक्षेत्रों में प्रयोग होने लगीं। नई (विदेशी) भाषा को शीघ्र ही प्रतिष्ठा एवं सामर्थ्य मिल जाता था और यह आकृष्ट भारतीयों के बोलचाल की भाषा बन जाती थी।" (पृ. 18) इसमें भाषाई सम्पर्क व भाषाई विकास की प्रक्रिया का विवरण

है। दो भाषा भाषी एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं तो वे आपसी संवाद के लिए ऐसी मिश्रित भाषा का निर्माण करते हैं जो दोनों समझ सकें। ऐसे ही पिजिन भाषा का निर्माण करते हैं और यह भाषाओं के साझाकरण में भाषा मिश्रण की प्रक्रियाओं का आरम्भ है। (पृ. 20)

प्रस्तावना में भाषाओं के अध्ययन के स्त्रोतों को लेकर श्रीश कहते हैं कि इसे समझने के लिए अन्तर्विषयक अध्ययन आवश्यक हैं पर अभी यह दुर्लभ हैं। किन्तु प्रश्नों के उत्तरों के लिए एक से अधिक अध्ययन क्षेत्रों से संग्रहित समझ की आवश्यकता निरन्तर बनी रहती है। (पृ. 41) वे यह भी कहते हैं कि भारत के सन्दर्भ में अध्ययन के स्त्रोतों को लूट-पाट, विदेशी आक्रमणों, आगज़नी ने तो नुकसान पहुँचाया ही, किन्तु वे छितराए हुए भी हैं और उनमें से कुछ के विदेशों में होने के कारण भी परेशानी बनी हुई है। इसके अलावा कई बार बरसातों में, और लम्बी-लम्बी यात्राओं में उपयोगी सामग्रियाँ नष्ट भी हो गईं हैं और इससे अध्ययन में भी दिक़्क़त होती है। फिर भी इस बात से तो सहमत हुआ जा सकता है कि इस तरह के अध्ययन अतीत की भाषा और शैक्षिक नीतियों में वैयक्तिक भूमिकाओं एवं प्रजातियों व भाषाओं की शुद्धता के बारे में बनी भ्रान्तियों को भी दूर कर सकते हैं। (पृ. 51) भारत के मूल निवासी कौन हैं, इस प्रश्न पर पुस्तक में काफी चर्चा है। उनका कहना है कि शायद जनजातीय लोग ही भारत के मूल निवासी रहे होंगे।

एक पूरा अध्याय ग्रीक, हिब्रू एवं संस्कृत के सम्बन्ध पर है और श्रीश इसमें ई.पू. 1000 वर्षों से लेकर 1000 ई. तक के प्राचीन भारत में भाषाई अन्त: क्रिया की चर्चा करते हैं। वे बताते हैं कि उस समय के भारत में आज के अफ़ग़ानिस्तान, भूटान, बर्मा, भारत, नेपाल, पाकिस्तान, श्रीलंका और तिब्बत सम्मिलित थे। वे यह भी बताते हैं कि इसी कालखण्ड में लिखने और काग़ज़ बनाने की तकनीक भारत आई। इस कालखण्ड में विदेशों के साथ व्यापारिक आदान-प्रदान के साथ-साथ भाषाई व अन्य प्रकार का भी खूब आदान-प्रदान हुआ। वे कहते हैं कि गंगा किनारे बसे सभी प्रमुख शहर जैसे प्रयाग (इलाहबाद), काशी, पाटलिपुत्र, भागलपुर आदि तीर्थ स्थान के साथ-साथ प्रमुख व्यापारिक केन्द्र भी थे जिनमें बहुभाषी समुदाय रहते थे। लेखक के अनुसार, भारत से बाहर गए माल एवं विचारों के विनिमय के कुछ भाषा वैज्ञानिक साक्ष्य अभी भी मौजूद हैं। जैसे बन्दर के लिए हिब्रू शब्द 'कोफ', संस्कृत के 'कपि' शब्द से है और 'मोर' के लिए तमिल का मूल शब्द 'तोगाई' हिब्रू में 'तुक्की' बन गया। इसी तरह के उदाहरण ग्रीक और लैटिन में भी हैं। जैसे कुछ जवाहरात, मसालों और खाद्यान्नों के लिए इन भाषाओं में इस्तेमाल हो रहे कई शब्द संस्कृत मूल के हैं। संस्कृत ने भी कई शब्द इन भाषाओं से लिए हैं। उदाहरण के लिए 'प्रहर', 'केन्द्र' और 'कोण' ग्रीक एवं लैटिन मूल के हैं और वहाँ से संस्कृत में आए। भाषाओं के प्रयोग के आधार पर भारत के निवासियों का अध्ययन व मूल निवासियों को पहचानने का प्रयास रोचक व चुनौतीपूर्ण है क्योंकि विभिन्न भाषाओं के प्रयोग उन स्थानों पर ही अधिक सम्भव हुए जहाँ लोगों के आपसी सम्पर्कों के अधिक अवसर थे। इनके कुछ दो बड़े दायरे धार्मिक एवं व्यापारिक सम्पर्क हैं। इन्होंने ही भाषाई विस्तार का स्वरूप निर्धारित किया है। यह भी उल्लेखनीय है कि अधिकांशतः शहर व्यापार और धर्म के बड़े केन्द्र नदियों के किनारे ही थे। और इन्हीं जगहों में ज़्यादा भाषाई आदान-प्रदान और नए शब्दों को स्वीकारने

भाषाओं के प्रयोग के आधार पर भारत के निवासियों का अध्ययन व मूल निवासियों को पहचानने का प्रयास रोचक व चुनौतीपूर्ण है क्योंकि विभिन्न भाषाओं के प्रयोग उन स्थानों पर ही अधिक सम्भव हुए जहाँ लोगों के आपसी सम्पर्कों के अधिक अवसर थे। इनके कुछ दो बड़े दायरे धार्मिक एवं व्यापारिक सम्पर्क हैं। इन्होंने ही भाषाई विस्तार का स्वरूप निर्धारित किया है।

की व कुछ नए शब्द रचने की प्रक्रिया हुई। लेखक भाषाओं और प्रजातियों के पारस्परिक अन्तर्सम्बन्ध पर भी बात करते हैं और कहते हैं कि भाषाएँ प्रजातियों से एक से एक मेल नहीं रखती। इसी अध्याय में वे यूनानी और भारतीयों के सम्पर्क पर भी चर्चा करते हैं और बहुत से तथ्य प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि यूनानियों के साथ भारत का सम्पर्क बहुत समय रहा है। यह भी कि यूनानी भारत की सीमाओं पर पहले से ही रह रहे थे। यह लोग वास्तुकार, दुर्जेय योद्धा, मूर्तिकार तो थे ही किन्तु, भारत के प्रति उनका आकर्षण उसकी धन सम्पदा और सौन्दर्य के कारण अधिक था। उनके अनुसार भारतीयों के यूनान में होने का उल्लेख भी मिलता है। सिकन्दर के समय का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि सिकन्दर के दरबार में बैक्ट्रिया और भारत के आस-पास की मिश्रित ग्रीक का प्रयोग होता था। सिकन्दर के लौटने के बाद भी कई यूनानी भारत में बस गए लेकिन उनके आपसी सम्पर्क निरन्तर बने रहे। इसके कारण यूनानी चिकित्सा और साहित्य का प्रभाव भारत में भी देखा जा सकता है। केरल की चैडी नामक घाटी के लोग दावा करते हैं कि वे सिकन्दर के वंशज हैं। इन सब से यह साफ़ है कि लेखक के अनुसार इन पहलुओं पर और जानकारी व स्रोत चाहिए, उसके बिना कुछ भी यक़ीन से कहना मुश्किल है। पर जो सह-सम्बन्ध दिखते हैं उनका ज़िक्र वे काफी विस्तार से करते हैं।

इसी तरह की एक बात वे भारतीय भाषाओं व अन्य भाषाओं के सम्बन्ध के बारे में करते हैं। पृ. 68 पर वे कहते हैं कि आज हिब्रू भारत से जितनी सुदूर और असम्बद्ध दिखती है उतनी है नहीं। फिलिस्तिनी हिब्रू भाषी एवं भारतीयों का सम्पर्क 2000 वर्ष ई.पू. से रहा है। वह व्यापार के साथ अपनी भाषा भी यहाँ लाए और इसके फलस्वरूप अपनी भाषा के कुछ शब्द यहाँ छोड़ गए और कुछ शब्द भारत से अपने यहाँ ले गए। इसीलिए, मैथिली और बंगाली पर हिब्रू का प्रभाव नज़र आता है और हिब्रू भाषियों का प्रवास भारत के कई भागों में दिखता है जिनमें उत्तर और दक्षिण भारत के बहुत से हिस्से सम्मिलित हैं।

संस्कृत पर विमर्श में भारतीय समाज के कई प्रश्नों की चर्चा स्वाभाविक है, पहला तो यह कि क्या यह ब्राह्मण वर्चस्व की बात है, जहाँ वह भाषा की सम्पूर्णता, उसकी पवित्रता और इनको बनाए रखने में अपने वर्ग की श्रेष्ठता को स्थापित करने का निरन्तर प्रयास करता है। इन प्रश्नों की चर्चा आधुनिक सन्दर्भों में एक स्त्री विमर्श का भी हिस्सा है जो इस सारे प्रसंग को अधिक महत्त्वपूर्ण बनाता है।

संस्कृत पर विमर्श में भारतीय समाज के कई प्रश्नों की चर्चा स्वाभाविक है, पहला तो यह कि क्या यह ब्राह्मण वर्चस्व की बात है, जहाँ वह भाषा की सम्पूर्णता, उसकी पवित्रता और इनको बनाए रखने में अपने वर्ग की श्रेष्ठता को स्थापित करने का निरन्तर प्रयास करता है। इन प्रश्नों की चर्चा आधुनिक सन्दर्भों में एक स्त्री विमर्श का भी हिस्सा है जो इस सारे प्रसंग को अधिक महत्त्वपूर्ण बनाता है।

संस्कृत के बारे में श्रीश ने विस्तार से व्याख्या की है और कई सवालों को रखा है। जैसे यह सवाल कि इसका भारत में उद्भव कैसे हुआ, क्या यह भारतीय भाषा है या विदेशी और फिर यह सवाल कि क्या यह कभी जन भाषा रही है या नहीं। लेखक कहते हैं कि कई विद्वानों जैसे फ्रेडरिक मैक्समूलर, मोनियर विलियम्स एवं अन्य यूरोपीय विद्वानों के अनुसार संस्कृत मध्य एशिया या यूरोप से आई। 3000 वर्ष ई.पू. से 700 वर्ष ई.पू. में आर्य यहाँ हरे-भरे मैदानों की खोज में आए और उनके साथ यह भाषा भी आई। आर्यों और द्रविड़ों का भयंकर और दीर्घकालीन संघर्ष वास्तव में दो लोगों अथवा दो 'राष्ट्रीयताओं' के बीच नहीं वरन दो 'सभ्यताओं' के बीच का संघर्ष था, जिसमें आर्यों ने द्रविड़ों के गढ़ और शहरों को नष्ट कर दिया और उनके घर जला

दिए और उन्हें बड़ी संख्या में दास बना लिया। इस प्रक्रिया में आगन्तुक आर्य कुलों और अलग-अलग गैर-आर्य कुलों के साथ विभिन्न समयों पर होने वाले सम्पर्क के द्वारा बंगाली, मैथिली, मराठी इत्यादि के रूप में विभिन्न प्रकार की भाषाओं की उत्पत्ति हुई। परन्तु संस्कृत उनकी प्रार्थना एवं गीत में, साथ रह रहे लोगों के बीच में, कलात्मक भाषा के रूप में बनी रही और उन्हें (आर्यों को) एक साथ बनाए रखा। (पृ. 73) एक अन्य मत के अनुसार संस्कृत देशज यानी भारत की भाषा है, इसके प्रमाण स्वरूप लेखक ने कुछ तर्क दिए हैं जिनकी जड़ में कुछ विदेशी भाषाई रचनाओं में संस्कृत के प्रति विरोध है। और इसी तरह से भारत में हूणों, कुषाणों, शक, चीनी व अन्य लोगों को जिस श्रेणी में रखा जाता था और जिस तरह के शब्दों से उनके बारे में बात की जाती थी उससे लगता है यह एक दबी क़ौम का अपना गुस्सा निकालने का ढंग था और इसीलिए यह दिखाता है कि यह लोग व संस्कृत भाषा भारत की मूल मानी जा सकती है।

पुस्तक कहती है कि ऐसे कोई प्रमाण नहीं हैं जिससे लगे कि संस्कृत कभी आम लोगों की भाषा रही है। प्रमाण यही हैं कि वह उच्च वर्ग और ब्राह्मणों की भाषा रही है। हालाँकि बहुत से ज्ञानी लोग व अपने कार्य में निपुण विषेशज्ञ जैसे वैद्य आपसी संवाद में भी संस्कृत का प्रयोग करते थे किन्तु यह सामान्य लोगों तक नहीं पहुँचती थी। हालाँकि लेखक के अनुसार वैद्य व अन्य व्यवसायों के लोग संस्कृत बाँटने में इतने संकीर्ण नहीं थे जितने ब्राह्मण थे। लेखक का कहना है कि ऐसा मान सकते हैं कि जहाँ प्रवासी जाति की भाषा मूल निवासियों की भाषा पर हावी हो गई, वहीं वह आमजन द्वारा उपयोगित व ब्राह्मणों द्वारा उपयोगित भाषा दो श्रेणियों में विभक्त हो गई। अशिक्षित लोगों की भाषा पुनः विभिन्न प्रान्तीय उपश्रेणियों में विभक्त हो गई। उनका कहना है कि ज्ञान की कुंजी को सार्वजनिक न होने देने की इच्छा व इसके ज्ञान को विशेष दर्जा देने के हिसाब से इसे संस्कृत अथवा पूर्णता से निर्मित भाषा कहा गया और इसे प्राकृत की तुलना में श्रेष्ठ बताया गया। लेखक के अनुसार संस्कृत ही भारत में जाति, धर्म, वर्ग, कुल की व्यवस्था का सामाजिक कारक थी, और यह उच्चतर पद सोपान की भाषा थी और इससे निम्न जाति के लोगों के साथ-साथ उच्च वर्ग की महिलाओं को भी दूर रखा जाता था। लेखक कार्डोना और जैन के हवाले से बताते हैं कि संस्कृत नाट्यशास्त्र में राजा संस्कृत में बात करते थे, और रानियाँ व नौकरानियाँ प्राकृत एवं अपभ्रंश में।

पुस्तक कहती है कि ऐसे कोई प्रमाण नहीं हैं जिससे लगे कि संस्कृत कभी आम लोगों की भाषा रही है। प्रमाण यही हैं कि वह उच्च वर्ग और ब्राह्मणों की भाषा रही है। हालाँकि बहुत से ज्ञानी लोग व अपने कार्य में निपुण विषेशज्ञ जैसे वैद्य आपसी संवाद में भी संस्कृत का प्रयोग करते थे किन्तु यह सामान्य लोगों तक नहीं पहुँचती थी।

श्रीश मानते हैं कि संस्कृत व्यापक रूप से ज्ञान के आदान-प्रदान का माध्यम भारत में भी और दक्षिण-पूर्व एशिया में भी रही है। दक्षिण भारत में संस्कृत कई राज्यों की राजसी भाषा व दस्तावेज़ों का हिस्सा थी। उनके काग़ज़ों में बहुत से संस्कृत शब्द मिलते हैं। किन्तु धर्म के क्षेत्र में और सामान्य बातचीत में संस्कृत महत्त्वपूर्ण नहीं रही। बौद्ध धर्म के मौखिक व लिखित प्रवर्तन में पाली के उपयोग से संस्कृत को काफी बड़ी चुनौती मिली और उसका धर्म के क्षेत्र में वर्चस्व लगभग समाप्त हो गया। इस हज़ार साल के अन्तराल में कई और भाषाई परिवर्तन हुए। श्रीश कहते हैं कि उपयोग से व अलग-अलग सन्दर्भों में भाषा में परिवर्तन व विकास होते रहने से कई मौखिक बोलियाँ भारत में बन गईं। और यह बोलियाँ प्राचीन भारतीय आर्य मानक से जितनी ज़्यादा दूर हुईं, उतना ही संस्कृत का महत्त्व बढ़ता गया। यह उन भाषाओं की तुलना में व्यवस्थित व

ज़्यादा व्यापक क्षेत्र में लिखित रूप में राजकीय, अनुष्ठानीय व ज्ञान के आदान-प्रदान के सन्दर्भ में ज़्यादा लोगों को और ज़्यादा बड़े दायरे में समझ आने वाली बनी।

तीसरा अध्याय अरबी, फ़ारसी और तुर्की पर केन्द्रित है। श्रीश कहते हैं कि यह सभी भाषाएँ इस्लाम से पूर्व ही भारत के सम्पर्क में थीं और फ़ारसी सबसे लम्बी अवधि तक प्रयोग की जाने वाली विदेशी भाषा है। अरबी भी काफी लम्बे समय से बोली जा रही है और हालाँकि तुर्की कम लोगों द्वारा बोली जाती रही है, फिर भी इस भाषा के शब्द प्रायः पूरे भारत में मिलते हैं। यह भाषाएँ विभिन्न भाषा परिवारों से सम्बद्ध हैं और फ़ारसी संस्कृत की ही तरह एक भारतीय आर्य भाषा है, जबकि अरबी, हिब्रू की तरह सेमिरिक भाषा है। तुर्की का सम्बन्ध तुर्की एल्तिक भाषा समूह से है। फ़ारसी को अब अरबी लिपि में लिखा जाता है, जबकि तुर्की को रोमन में। यों सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं में अरबी, फ़ारसी और तुर्की के शब्द मिलते हैं। आज भी न्यायिक, सैन्य और राजस्व प्रशासन के कई सन्दर्भों में अरबी, फ़ारसी और तुर्की के बिना बात करना मुश्किल हो जाता है। व्यापारिक मार्ग में ईरान और अरब देशों के कई शहरों में आवश्यक ठहरने के स्थल थे, इससे एशियाई भाषाओं जैसे– फ़ारसी, अरबी और तुर्की की कुछ बोलियों से भारत का निरन्तर संवाद बना रहा। इन क्षेत्रों से ऐसा ही सम्पर्क जल मार्गों से भी बना रहा। इसी तरह प्राचीन भारत में तटीय बंगाल जिसे उस समय गौर कहते थे, में अरब व्यापारियों के बसने का उल्लेख है। भारत से होकर ही चीन, बसरा और बगदाद का पारस्परिक व्यापार होता था अतः यह सभी भाषाओं व लोगों के बीच सम्पर्क का स्थल बना। इन सम्पर्कों से कोंकण में नतिया व मालाबार में मोप्लास जैसे मिश्रित समाजों का जन्म हुआ। श्रीश इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं कि प्रशासनिक भाषा वही होती थी जो शासक की भाषा थी किन्तु अधिकांश दरबार बहुभाषी भी थे व उनके नियमों में धार्मिक बहुलता का संज्ञान था।

इसी अध्याय में श्रीश आठवीं से तेरहवीं सदी के बीच इस्लामिक राज्य के विस्तार से पड़े असर की बात भी करते हैं। तेहरवीं शताब्दी तक लगभग पूरा उत्तरी भारत इस्लाम के अधीन हो गया था और अगली सदी में दक्षिण भारत भी इसके अधीन हो गया था। हालाँकि बहुत से भारतीय मुसलमान अरबी का प्रयोग करते थे, किन्तु इस्लामिक शासन फ़ारसी को तवज्जो देते थे। वे बताते हैं कि भारत के लगभग सभी मुस्लिम दरबार बहुनस्ली, बहुभाषी और प्रायः बहुधर्मी थे। यहाँ तक कि कट्टर कहे जाने वाले औरंगज़ेब के दरबार में भी 28 विभिन्न नस्ली पृष्ठभूमियों के लोग थे। इस दौरान भाषिक विविधता बढ़ी ही। अलग-अलग भाषाई समूहों, जिनमें बुन्देलखण्डी व भोजपुरी बोलने वाले सिपाही और तुर्की और स्वाहिली बोलने वाले सम्मिलित थे, के सम्पर्क से उत्तर में हिन्दी और उर्दू तथा दक्षिण में दक्खिनी का आरम्भ हुआ। यही प्रक्रिया कोंकण और गुजरात के क्षेत्रों में भी हुई। इसी सम्पर्क के क्रम में हिन्दवी, हिन्दुस्तानी, मूर, हिन्दी/उर्दू, मिश्रित भाषा के रूप में विकसित हुई।

शेरशाह (सन् 1486-1545) ने 1540-45 के दौरान अरबी और नागरी लिपि के प्रयोग को बढ़ावा दिया। हालाँकि इस दौरान परगना स्तर पर फ़ारसी का प्रयोग भी आरम्भ हुआ किन्तु

प्राचीन भारत में तटीय बंगाल जिसे उस समय गौर कहते थे, में अरब व्यापारियों के बसने का उल्लेख है। भारत से होकर ही चीन, बसरा और बगदाद का पारस्परिक व्यापार होता था अतः यह सभी भाषाओं व लोगों के बीच सम्पर्क का स्थल बना। इन सम्पर्कों से कोंकण में नतिया व मालाबार में मोप्लास जैसे मिश्रित समाजों का जन्म हुआ।

आदेश नागरी लिपि में भी लिखे जाने लगे। श्रीश मानते हैं कि अरबी भारत में मूलतः धर्म की भाषा के रूप में आई। उनके अनुसार मस्जिदों के बाहर मुस्लिम भी अरबी का प्रयोग कम करते थे। फ़ारसी का ज़्यादा व्यापक इस्तेमाल होता था और यह ही धर्मनिरपेक्ष सम्भाषण की भाषा थी। यह भाषाई विविधता मुग़ल शासन में भी चलती रही जहाँ बाबर अरबी, फ़ारसी और तुर्की का विद्वान था वहीं हुमायूँ, फ़ारसी का सरलता से उपयोग कर सकता था और वह निजी रूप में तुर्की का प्रयोग भी करता था। इसी तरह जहाँगीर बहुभाषी था, वह कई स्थानीय और विदेशी भाषाएँ बोलता था। इतनी सारी भाषाओं के बीच दुभाषियों की भी उस समय राजा के दरबार में भूमिका थी। श्रीश भाषाई और सांस्कृतिक मेल-जोल व महिलाओं की इस समय की स्थिति के बारे में भी बात करते हैं। उनके अनुसार इस काल में महिला शिक्षा बुरी तरह से प्रभावित थी और उच्च वर्ग की महिलाएँ भी केवल अपने धर्म के चन्द धर्मग्रन्थ पढ़ सकती थीं। फ़ारसी में कार्य होने के कारण बहुत से लोग इसे सीखते थे और अट्ठारहवीं शताब्दी तक आते-आते फ़ारसी में पढ़ने वाले हिन्दुओं और मुस्लिमों की संख्या बराबर हो गई थी। आगे श्रीश कहते हैं कि फ़ारसी कुलीन वर्ग की ही भाषा रही, जिसे कुछ अन्य लोगों ने कुछ उद्देश्य से ही ग्रहण किया। उनका यह भी कहना है कि फ़ारसी कभी अपने शाही चोले से बाहर आकर सामान्य घरों में प्रवेश नहीं कर सकी।

पुस्तक में हिन्दी और उर्दू की बहस और उनकी उत्पत्ति पर रोचक विमर्श है। उर्दू एक तुर्की शब्द है, जिसका अर्थ भीड़, जमघट या अस्त-व्यस्त बाज़ार हो सकता है। वैसे यह ओर्दू भी हो सकता है और ओर्दू का अर्थ सैन्य शिविर होता है। श्रीश बताते हैं कि तेरहवीं शताब्दी में भारत की लोकप्रिय और बाज़ारी भाषा को हिन्दी का नाम दिया गया। और यही भाषा मुग़ल सैन्य शिविरों की मुख्य भाषा बनी और उस सन्दर्भ में विकसित होती रही। विकसित होते-होते सत्रहवीं सदी तक आते-आते इसे उर्दू के रूप में जाना जाने लगा। श्रीश कहते हैं कि हिन्दी और उर्दू एक ही भाषा से उत्पन्न दो भाषाई छोर हैं। जिस बाज़ारी हिन्दी में अरबी और फ़ारसी का प्रयोग अधिक होने लगा वह उर्दू कही जाने लगी और जिसमें ज़्यादा शब्द संस्कृत से लिए गए वह हिन्दी हो गई। पहले दोनों की लिपियाँ भी एक ही थीं। श्रीश भाषा और लिपि, मानक भाषा और इनसे सम्बन्धित मसलों पर भी बात करते हैं। वे बताते हैं कि लिपि और भाषा के बीच कोई एक से एक संगति का रिश्ता नहीं है। और हिन्दी में कई सारी भाषाओं को समाहित कर लिया गया है। वे एक उदाहरण जायसी की अवधी रचनाओं का देते हैं और बताते हैं कि उनकी लिपि देवनागरी नहीं थी, जबकि उन्हें हिन्दी का कवि माना जाता है। हिन्दी और उर्दू के विकास में नए शहर और वहाँ ग्रामीण क्षेत्रों से आए लोगों की भाषा और उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण रहे। वे कहते हैं कि उर्दू दिल्ली के बाज़ार में पैदा हुई और मुग़ल सेना शिविरों में पली और बताते हैं कि अट्ठारहवीं शताब्दी के कई ब्रिटिश दस्तावेज़ इसे दिल्ली की ज़बान कहते हैं। भाषाई विकास की प्रक्रिया का यह वर्णन दर्शाता है कि भाषाओं में आदान-प्रदान होना एक सहज प्रक्रिया है, जब भी विभिन्न संस्कृतियाँ, समुदाय एक-दूसरे से मिलते हैं यह आदान-प्रदान होता ही है। इससे यह भी ज़ाहिर होता है कि व्यापार, सत्ता केन्द्र, सेना व पलायन

श्रीश कहते हैं कि हिन्दी और उर्दू एक ही भाषा से उत्पन्न दो भाषाई छोर हैं। जिस बाज़ारी हिन्दी में अरबी और फ़ारसी का प्रयोग अधिक होने लगा वह उर्दू कही जाने लगी और जिसमें ज़्यादा शब्द संस्कृत से लिए गए वह हिन्दी हो गई। पहले दोनों की लिपियाँ भी एक ही थीं। श्रीश भाषा और लिपि, मानक भाषा और इनसे सम्बन्धित मसलों पर भी बात करते हैं।

का भाषा के विकास में योगदान रहा है। इसी सन्दर्भ में वे यह भी बताते हैं कि आम बाज़ारी हिन्दी से उर्दू व हिन्दी बनने की प्रक्रिया में हिन्दी वालों ने संस्कृत का ज़्यादा प्रयोग किया और उर्दू ने अरबी-फ़ारसी की ओर देखा। वे कहते हैं कि जहाँ यह बात है कि भाषाओं का आरम्भ जनसाधारण के बीच सामान्य स्थानों व सम्पर्क की परिस्थितियों में हुआ है, पर उनमें परिष्कार के कुछ और पहलू होंगें।

अध्याय चार में भारत पर अर्मेनियाई, पुर्तगाली, डच और फ्रांसीसी सम्पर्कों के प्रभावों का विश्लेषण है। इसमें मार्को पोलो (1254-1354) की सीलन द्वीप (वर्तमान श्रीलंका) और मालाबार (वर्तमान केरल) की यात्रा से वहाँ की स्थिति की झलक मिलती है और यह पता चलता है कि वहाँ यहूदी थे जो अपनी ही भाषा प्रयोग करते थे। श्रीश बताते हैं कि वास्को-डी-गामा (1469-1524) के भारत में आगमन से एक नया दौर शुरू होता है। सत्रहवीं सदी के अन्त तक यूरोपियों के साथ कई तरह का सम्पर्क व्यापारियों और पादरियों व उनसे जुड़े लोगों के आने से शुरू हुआ। इनमें पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी और अँग्रेज़ थे जो अलग-अलग क्षेत्रों में गए और बहुत से वहीं बस गए और कई तरह के व्यवसाय करने लगे। इसमें से कुछ उदाहरण डॉक्टर, पेंटर, सैन्य अधिकारी और सलाहकारों के कार्य के हैं। इस समय यूरोपीय छपाई मशीन भी आई और इससे आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास में काफी मदद मिली। श्रीश यह भी बताते हैं कि अर्मेनियाई का भारत के साथ सम्पर्क ईसा से 150 वर्ष पूर्व से है। पुर्तगाली के साथ भारतीयों का प्रभावी सम्पर्क था, हालाँकि इन्हें फिरंगी कहा जाता था व अपने से अलग समझा जाता था। वे बताते हैं कि यह भारतीय क्षेत्रों में फैल नहीं पाए और इनका साम्राज्य भी ज़्यादा नहीं चला और इनका प्रभाव व उपस्थिति गोवा तक ही सीमित है। इसके बावजूद पुर्तगाली के अनेक शब्द भारत की आधुनिक भाषाओं में प्रयोग में शामिल हैं। यह शायद इसलिए क्योंकि सोलहवीं शताब्दी के शुरू में पुर्तगालियों ने भारतीय भाषा के प्रयोग का समर्थन किया और उसे सीखा। उनके लिए महत्त्वपूर्ण मकसद ईसाई धर्म व क्रॉस को फैलाना था। इसके लिए उन्होंने चर्च बनाए और चर्च तथा चर्च के बाहर मराठी और कोंकणी का प्रयोग किया। इससे वे स्थानीय समूहों तक पहुँच सके। किन्तु वह व्यापार व अन्य मसलों के स्थान पर धर्म फैलाने को ज़्यादा महत्त्व देते थे अतः वे स्थानीय लोगों से घुल-मिल नहीं पाए और उनके बीच प्रिय भी नहीं थे। उनका सैन्य पतन भी शीघ्र हो गया। उनका भारतीय भाषाओं से सम्पर्क धर्म केन्द्रित था और चर्च पर पुर्तगाली का इतना अधिक प्रभाव था कि शुरू में अँग्रेज़ पादरियों को भी पुर्तगाली सीखनी पड़ी क्योंकि चर्च का सभी कामकाज पुर्तगाली में ही होता था। पुर्तगालियों ने ईसाई धर्म के लिए रोमन लिपि में और बंगाली भाषा में सामग्री अनुदित और प्रकाशित की। मलयालम और तमिल में भी इस तरह की सामग्री बनी। किन्तु पुर्तगालियों ने मन्दिरों को तोड़ा और लूटा और इसीलिए वह काफी अलग-थलग भी पड़ गए। किन्तु भारतीय भाषाएँ अपनाने के कारण बहुत से पुर्तगाली दुभाषिए बने और कई पुर्तगालियों ने भारतीयों से शादी भी की और कई मिश्रित परिवार बने। श्रीश लिखते हैं कि भारत की भाषाओं के स्वरों ने पुर्तगाली को प्रभावित किया। साथ ही साथ पुर्तगाली के अनेक शब्द भारतीय भाषाओं में समाहित हो गए, चाहे वह हिन्दी हो या बंगाली। (पृ. 229) भारत में यूरोपीय

> भाषा में एक नया मुहावरा और अर्थ देने का कार्य भारत में धर्म प्रतिष्ठानों ने लम्बे समय से किया है। संस्कृत के विस्तार में भी यह देखा जा सकता है। उसके पश्चात संस्कृत के प्रभुत्व को चुनौती भी बौद्ध धर्म प्रतिष्ठानों के भाषाई प्रयोग से ही मिली। यह रोचक हो सकता है कि विभिन्न धार्मिक प्रतिष्ठानों के भाषाई संरचना में योगदान की भूमिका का अलग से आकलन हो।

भाषाओं के विकास की प्रक्रिया में विशेषकर पुर्तगाली भाषा को ईसाई पादरियों ने काफी आगे बढ़ाया। यह बात बार-बार आकर्षित करती है कि भाषा में एक नया मुहावरा और अर्थ देने का कार्य भारत में धर्म प्रतिष्ठानों ने लम्बे समय से किया है। संस्कृत के विस्तार में भी यह देखा जा सकता है। उसके पश्चात संस्कृत के प्रभुत्व को चुनौती भी बौद्ध धर्म प्रतिष्ठानों के भाषाई प्रयोग से ही मिली। यह रोचक हो सकता है कि विभिन्न धार्मिक प्रतिष्ठानों के भाषाई संरचना में योगदान की भूमिका का अलग से आकलन हो। वर्तमान में जो नए आश्रम धर्मगुरुओं ने बनाए हैं उन्हें भी इस दृष्टि से देखने की आवश्यकता तो बनती है।

पाँचवां अध्याय ईस्ट इंडिया कम्पनी के भारतीय भाषाओं के साथ सम्बन्ध व उसके उन पर प्रभाव के बारे में है। श्रीश के अनुसार अँग्रेज़ ईसाईयत के प्रचार से दूर रहे पर उन्होंने व्यवस्थित तौर पर अपनी भाषा व यूरोपीय ज्ञान का प्रसार किया। जहाँ एक ओर उन्होंने हिन्दू मन्दिरों व मस्जिदों को बनने से नहीं रोका वहीं दूसरी ओर उन्होंने संस्कृत व अरबी के अध्ययन को प्रोत्साहन देना धीरे-धीरे बन्द कर दिया। श्रीश की राय में वे भारतीय संस्कृति के प्रति अधिक उदार थे हालाँकि यह सही नहीं माना जा सकता क्योंकि इस उदारता के पीछे क्या समझ थी यह कहना मुश्किल है। अँग्रेज़ कम्पनी अपने अधिकारियों को देशज भाषाएँ सीखने के लिए कहती थी और कई महत्त्वपूर्ण अँग्रेज़ पदाधिकारी स्थानीय भाषाओं के महत्त्व को अच्छी तरह समझते थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी व अँग्रेज़ों से भारतीयों का सम्पर्क इसलिए भी बढ़ा चूँकि कम्पनी ने कुलीन व बाकी भारतीयों के लिए अलग-अलग तरह की नौकरियों की सम्भावना भी खोली। इससे वे अँग्रेज़ों के व उनके तौर-तरीक़ों के सम्पर्क में भी आए। कम्पनी में काम के बारे में एक बात जो उनको अच्छी लगती थी वह समय पर व नियमित वेतन मिलना था, जिससे कार्य के लिए एक आदर का भान होता था। अँग्रेज़ों ने बड़ी संख्या में भारतीयों की नियुक्तियाँ कीं परन्तु वे यहाँ के सामाजिक, रूढ़िगत, धार्मिक परम्पराओं को छूने को लेकर बहुत सतर्क थे। अतः नौकरियाँ जाति के आधार पर ही मिलती थीं। उदाहरण के लिए श्रीश बताते हैं कि उच्च पदों के लिए केवल उच्च जाति के हिन्दू चुने जाते थे और दासोचित कार्य के लिए निम्न जाति के हिन्दू और इनमें भी सबसे निकृष्ट कार्य, जैसे मेहतर का काम अछूत ही कर सकते थे। इन पदों में अंतर्स्थापना की भी गुंजाइश नहीं थी और जिस कार्य के लिए आपको पद मिला था उसी तरह के काम को आप करते रह सकते थे। इस सबसे और आपसी बातचीत की अवश्यकता से उन्नीसवीं सदी के अन्त तक भारत के विभिन्न भागों में खिचड़ी-अँग्रेज़ी का आविर्भाव होने लगा था।

> भारतीय भाषाओं के प्रति कम्पनी के लोगों का दृष्टिकोण बदलता व विकसित होता रहा और एक ही समय पर उनके बीच इसको लेकर विवाद भी रहा था यह भी ज्ञात है। यह बात श्रीश की किताब के अलावा कई और स्रोतों से भी मिलती है। अँग्रेज़ी शासकों ने कई तरह के हिन्दू और मुस्लिम संस्थानों को स्वीकृति दी और स्थापित होने में सहयोग किया।

वैसे अट्ठारहवीं शताब्दी के दौरान व उसके बाद से क्रमशः बढ़ते स्तर तक भारतीय भाषाओं में अँग्रेज़ी ज्ञान की शिक्षा एवं समाचार पत्र के प्रकाशन को प्रोत्साहित किया। अँग्रेज़ी सम्पर्क के लिए भारत में बिचौलियों की ज़रूरत फिर भी रहती थी। इनसे कई तरह की अपेक्षाएँ थीं और चूँकि इस भूमिका के लिए कई तरह की क्षमताएँ अनिवार्य थीं अतः इनका चुनाव व तैयारी कड़ाई से होती थी और इनका मानदेय आदि भी अच्छा होता था। वे कहते हैं इस समय प्रशासकीय कार्य में भी भारतीय भाषाओं का उपयोग होता था और इनमें हिन्दुस्तानी का विशेष स्थान था चूँकि वह काफी संख्या में लोगों द्वारा समझी

जाती थी। हिन्दुस्तानी में छपने वाली किताबें सरलता से सम्भव रोमन लिपि से शुरू होकर धीरे-धीरे देवनागरी लिपि में छपने लगीं।

भारतीय भाषाओं के प्रति कम्पनी के लोगों का दृष्टिकोण बदलता व विकसित होता रहा और एक ही समय पर उनके बीच इसको लेकर विवाद भी रहा था यह भी ज्ञात है। यह बात श्रीश की किताब के अलावा कई और स्रोतों से भी मिलती है। अँग्रेज़ी शासकों ने कई तरह के हिन्दू और मुस्लिम संस्थानों को स्वीकृति दी और स्थापित होने में सहयोग किया। इस दौरान एक ओर तो भारतीय भाषाओं के टाइप होने की सम्भावना धीरे-धीरे बनी, कई शब्दकोष बने जो कि द्विभाषी ही नहीं त्रिभाषी भी थे वरन बहुत-सी पुस्तकों के अनुवाद भी हुए। वे यह भी बताते हैं कि अनुवाद की सरलता और बोधगम्यता पर ज़ोर था और देशज़ भाषाओं के शब्द उपयोग करने पर भी, किन्तु मानक भाषा व संस्कृत के महत्त्व को भी इस प्रयास ने स्थापित किया। सुझाव यह था कि जहाँ-जहाँ कोई शब्द न मिले वहाँ दूसरी भारतीय भाषाओं में शब्द न खोजकर फ़ारसी और संस्कृत के शब्दों की ओर देखना चाहिए। अठारहवीं शताब्दी में कई नए उच्च शिक्षा के संस्थान बने और भारतीय भाषाओँ में छपाई का काम भी शुरू हुआ। इससे यह पुस्तकें ज़्यादा लोगों तक पहुँचने लगीं।

अगला अध्याय 'ईस्ट इंडिया कम्पनी और अँग्रेज़ी भाषा' भारत में अँग्रेज़ी भाषा के धीरे-धीरे बढ़ते प्रभाव व उसके कारणों पर केन्द्रित है। जैसा श्रीश ने पहले भी कहा है अँग्रेज़ों ने इस मामले में फूँक-फूँककर कदम रखे। वे कहते हैं कि अँग्रेज़ी का प्रसार धीमे-धीमे शुरू हुआ और यह मुश्किल भी रहा क्योंकि कम्पनी के लोगों के बीच इस पर मतैक्यता नहीं थी। परन्तु यह कह सकते हैं कि एक बार शुरू होने के बाद इसका प्रसार तीव्र रहा। जैसा श्रीश कहते हैं शुरू के काफी समय तक अँग्रेज़ी के प्रयोग पर ज़ोर नहीं था और उससे बचा जाता था और वे भारत में अँग्रेज़ी शिक्षा के खिलाफ़ थे। इसका एक कारण अमरीका का आन्दोलन के बाद स्वतंत्र हो जाना हो सकता है। कम्पनी के अफ़सरों व अन्य सभी अँग्रेज़ लोगों को देशज भाषाएँ सीखने को प्रेरित किया जाता था और यह उनके लिए आवश्यक था। सत्रहवीं और काफी हद तक अठारहवीं सदी तक अँग्रेज़ी ईस्ट इंडिया के कारखानों तक ही सीमित थी। राज का अधिकांश काम देशज भाषाओं में ही होता था और उसमें भी हिन्दुस्तानी प्रमुख थी। अट्ठारहवीं शताब्दी में शुरू हुए अनुवादों व छपाई की सम्भावना ने और ग्रांट व उस जैसे अन्य लोगों के भारतीयों को अँग्रेज़ी ज्ञान से परिचित कराने की बात पर ज़ोर देने से अँग्रेज़ी के प्रसार की बात ने कुछ ज़ोर पकड़ा जो अगली शताब्दी में और तेज़ हुई। अट्ठारहवीं शताब्दी के मध्य से अँग्रेज़ी ने पसन्दीदा विदेशी भाषा के रूप में पुर्तगाली का स्थान लेना शुरू किया। ग्रांट, बैंटिक, मैकाले जैसे अँग्रेज़ अधिकारियों व राजाराम मोहन राय व राजाओं व अन्य प्रभावशाली लोगों ने अलग-अलग कारणों व अलग-अलग ढंग से अँग्रेज़ी व उसके ज्ञान के प्रसार पर ज़ोर दिया। इस प्रसार के कारण व ध्येय और उसे किस तक पहुँचाना है इस बारे में इन सभी की अलग-अलग दृष्टि थी। फिर भी भारत में अँग्रेज़ी के फैलाव व विकास में इनकी भूमिका महत्त्वपूर्ण है। श्रीश मैकाले के बारे में विस्तार से बात करते हैं और बताते हैं कि मैकाले ने ज्ञान व भाषा के क्षेत्र में एक बड़ा हस्तक्षेप किया और

अँग्रेज़ी का प्रसार धीमे-धीमे शुरू हुआ और यह मुश्किल भी रहा क्योंकि कम्पनी के लोगों के बीच इस पर मतैक्यता नहीं थी। परन्तु यह कह सकते हैं कि एक बार शुरू होने के बाद इसका प्रसार तीव्र रहा। जैसा श्रीश कहते हैं शुरू के काफ़ी समय तक अँग्रेज़ी के प्रयोग पर ज़ोर नहीं था और उससे बचा जाता था और वे भारत में अँग्रेज़ी शिक्षा के खिलाफ़ थे।

बड़े बदलाव शुरू किए। जैसा कि ऊपर बात हुई इससे नए समूहों का उदय हुआ जिनके लिए अँग्रेज़ी व यूरोपीय ज्ञान आर्थिक और सामाजिक वर्चस्व से जुड़ा था। मैकाले व उसके पहले व बाद के उसी तरह की विचारधारा के समर्थक यह मानते थे कि यूरोपीय जीवन पद्धति ज़्यादा विकसित है। वे चाहते थे कि भारत मूर्तिपूजा व ऐसी अन्य कुरीतियों से बाहर आए और उसमें लिबरल विचार फैलें। उनके अनुसार यह सब वे भारतीयों को अज्ञानता व ग़लत की ज़कड़न से निकालने के लिए कर रहे थे और इसमें उन्हें बहुत से भारतीयों का समर्थन था। इस बहस में दोनों तरफ़ भारतीय व अँग्रेज़ विद्वान, अध्येता, प्रशासक व नेता थे। इस ऊहापोह में ही भारत का अँग्रेज़ी के साथ रिश्ता तय हुआ।

इस सब में आर्थिक कारणों व हितों ने मदद की। इसके बारे में श्रीश कहते हैं कि एक धारणा यह भी है कि उच्च वर्गीय हिन्दुओं और मुसलमानों ने अँग्रेज़ी सीखना बाद में शुरू किया। वे बताते हैं कि कुछ लोग यह सिद्धान्त रखते हैं कि उच्च वर्ग नई भाषा से आख़िर में जुड़ते हैं पर एक बार जुड़ जाएँ तो छोड़ते भी नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार नवयुवक और गैर–कुलीन वर्ग किसी नई भाषा को सबसे पहले अपनाते हैं और पुरानी को सबसे पहले छोड़ते हैं। यह शायद इसलिए कि गरीब व पिछड़े लोगों को उस नई भाषा के उपयोग की ज़रूरत सबसे पहले पड़ती है। भारत में कुलीन लोगों ने अच्छी नौकरियों, धन्धों व उच्च यूरोपीय शिक्षा हासिल करने के लिए अँग्रेज़ी व उसकी शिक्षा के विरुद्ध अपनी प्रवृत्ति को बदला और उसे सीखा और अपने परिवारों में उसके फैलाव पर ज़ोर दिया। अँग्रेज़ी जानने वालों के लिए आर्थिक व्यवस्था में उपलब्ध बेहतर मौक़ों के कारण उन्होंने एक ओर तो अपने परिवारों को आगे बढ़कर सिखाया ही परन्तु कुछ ने इसके दायरों को अन्य लोगों के लिए भी खोलने का प्रयास किया। जैसा कि हम देख सकते हैं कि भाषा और शिक्षा के प्रश्न पर अनिर्णय और दुविधा का दौर बना रहा ही है। श्रीश इसकी ओर इस अध्याय में ध्यान आकर्षित तो करते हैं पर इसका ज़्यादा विवेचन उपसंहार में करते हैं। हालाँकि वहाँ भी वे कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओं, उन पर विवादों और सम्बन्धित वक्तव्यों को छोड़ देते हैं।

श्रीश कहते हैं कि एक धारणा यह भी है कि उच्च वर्गीय हिन्दुओं और मुसलमानों ने अँग्रेज़ी सीखना बाद में शुरू किया। वे बताते हैं कि कुछ लोग यह सिद्धान्त रखते हैं कि उच्च वर्ग नई भाषा से आख़िर में जुड़ते हैं पर एक बार जुड़ जाएँ तो छोड़ते भी नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार नवयुवक और गैर–कुलीन वर्ग किसी नई भाषा को सबसे पहले अपनाते हैं और पुरानी को सबसे पहले छोड़ते हैं।

आखिरी अध्याय उपसंहार में वे भारत में आज अँग्रेज़ी के प्रयोग, स्थान और उसकी बहस के बारे में बात करते हैं और अँग्रेज़ी व अन्य विदेशी भाषाओं की भारत में स्थिति की तुलना करते हैं। वे कहते हैं कि ईस्ट इंडिया कम्पनी के बाद से अँग्रेज़ी का निरन्तर विस्तार हुआ है, और अभी भी हो रहा है और अँग्रेज़ी ने राष्ट्रीय आन्दोलन में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। वे यहाँ भारतीय साहित्य व यहाँ के लेखकों व उनके बीच की दुविधा व द्वन्द्व को भी सामने रखते हैं। उसके एक प्रतिनिधि के रूप में वे हिन्दी–उर्दू के प्रसिद्ध कथाकार के माध्यम से यह कहते हैं कि अँग्रेज़ी भाषा ने हमारी इच्छाशक्ति एवं हमारी शक्ति को ऐसा बन्दी बना दिया कि उनमें से दोनों ने स्वतंत्र रूप से कार्य करने की क्षमता खो दी। हमारा शिक्षित वर्ग उस जुए को अपने गले का बहुमूल्य पुष्पहार समझने को बाध्य है। वे बताते हैं कि बहुत से लोग जिसमें गांधी भी शामिल हैं चाहते थे और उम्मीद करते थे कि स्वतंत्रता के बाद अँग्रेज़ी का प्रयोग कम होगा।

श्रीश चौधरी की यह टिप्पणी आज की स्थितियों की अधिक सटीक व्याख्या करती

है: "यह बिना घण्टी बजाए चुपचाप वहाँ पहुँच चुकी है। प्रायः सभी कुलीन शहरी घरों में एवं कई गैर-कुलीन, गैर-शहरी घरों में भी भारतीय भाषाओं का प्रयोग घर में भी कुछ स्थितियों में सिमटकर रह गया है। आधुनिक भारतीय भाषाएँ बड़े व्यापार, शिक्षा, संस्कृति, विज्ञान, खेलकूद, तकनीकी आदि जैसे प्रतिष्ठा के क्षेत्रों से बाहर हो गई हैं।" (पृ. 429)

श्री चौधरी की यह पुस्तक मूलतः भारत में विदेशी भाषा और विदेशी लोगों के भारत के लोगों के साथ अन्तर्क्रिया (इंटरेक्शन) का इतिहास है। जो लम्बे दौर को रिकॉर्ड करता है और विस्तार से करता है, जिसमें राजनीति, धर्म, अर्थव्यवस्था और समाज की अलग-अलग प्रक्रियाओं के प्रामाणिक वर्णन हैं।

यहाँ एक और विश्लेषण भी होना चाहिए था कि स्वतंत्र भारत में और भी भाषाओं का सम्पर्क बढ़ा है। उनके प्रयोगकर्ता कौन हैं? नई प्रविधियाँ भी पिछले वर्षों में विकसित हुई हैं जो केवल जनसम्पर्कों से ही जुड़ी हैं और एक नया भाषा विन्यास बना रही हैं, और साथ ही नई सामाजिक संरचनाएँ भी। इसी नए का विस्तार से अध्ययन, भाषाविज्ञों और समाज विज्ञान के अपने सम्बन्धों को और शोध दीक्षाओं को नया रूप देगा। यहीं से इस अध्ययन की सामाजिक इतिहास की दृष्टि नए क्षेत्र को तय करने की ऊर्जा भी देगी।

अरुण चतुर्वेदी राजनीति शास्त्र के अध्येता है। वे मोहनलाल सुखाड़िया विश्व विद्यालय उदयपुर और कोटा ओपन विश्व विद्यालय में राजनीति शास्त्र के प्राध्यापक रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों और भारतीय राजनीति पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में नियमित लेखन करते हैं।
सम्पर्क : ar11jan@yahoo.co.in